दक्षिण में जैन-आयुर्वेद (प्राणावाय) की परम्परा

—डॉ० राजेन्द्र प्रकाश भटनागर

तीर्थङ्करों की वाणी का संग्रह-संकलन कर जैन 'आगमों' की रचना की गई। इनके १२ भाग हैं, जिन्हें 'द्वादशांग' कहते हैं। इन बारह अंगों में अंतिम भाग 'दृष्टिवाद' कहलाता है।

'दृष्टिवाद' के पांच भेद हैं—१ पूर्वगत, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ परिकर्म, और ५ चूलिका। 'पूर्व' चौदह हैं। इनमें से बारहवें 'पूर्व' का नाम 'प्राणावाय' है। इस 'पूर्व' में मनुष्य के आभ्यन्तर अर्थात् मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों, जैसे—यम, नियम, आहार, विहार और औषधियों का विवेचन है। साथ ही, इसमें दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदोध्वंसी रोगों की चिकित्सा का विचार किया गया है।

दिगम्बर आचार्य अकलंकदेव (८वीं शती) के 'तत्वार्थवार्तिक' (राजवार्तिक) में 'प्राणावाय' की परिभाषा बताते हुए कहा गया है—"कायचिकित्साद्यष्टांग आयुर्वेदः भूतिकर्म जांगुलिप्रक्रमः प्राणापान विभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्।" (अ०१, सू०२०)—जिसमें कायचिकित्सा आदि आठ अंगों के रूप में संपूर्ण आयुर्वेद, भूतशांति के उपाय, विषचिकित्सा और प्राण-अपान आदि वायुओं के शरीर धारण की दृष्टि से विभाग (योगक्रियाएं) का प्रतिपादन किया गया है, उसे 'प्राणवाय' कहते हैं।

उग्रादित्य कृत 'कल्याणकारक'

दक्षिण के जैनाचार्यों द्वारा रचित 'आयुर्वेद' या 'प्राणावाय' के उपलब्ध ग्रन्थों में **उग्रादित्य** का '**कल्याणकारक**' सबसे प्राचीन, मुख्य और महत्वपूर्ण है।[1] प्राणावाय की प्राचीन जैन-परम्परा का दिग्दर्शन हमें एकमात्र इसी ग्रन्थ से प्राप्त होता है। यही नहीं, इसका अन्य दृष्टि से भी बहुत महत्व है। ईसवी ८वीं शताब्दी में प्रचलित चिकित्सा प्रयोगों और रसौषधियों से भिन्न और सर्वथा नवीन प्रयोग हमें इस ग्रन्थ में देखने को मिलते हैं।

सबसे पहले १९२२ में नरसिंहाचार्य ने अपनी पुरातत्व संबंधी रिपोर्ट में इस ग्रन्थ के महत्व और विषयवस्तु के वैशिष्ट्य पर निम्नांकित पंक्तियों में प्रकाश डाला था, तब से अब तक इस पर पर्याप्त ऊहापोह किया गया है।

"Another manuscript of some intest is the medical work 'KALYNAKARAKA of Ugraditya, a Jaina author, who was a contemporary of the Rastrakuta king Amoghavarsha I and of the Eastern Chalukya king kali Vishnuvardhan V. The work opens with the statement that the science of Medicine is divided into two parts, namely prevention and cure, and gives at the end a long discourse in Sanskrit prose on the uselessness of a flesh diet, said to have been delivered by the author at the court of Amoghvarsha, where many learned men and doctors had assembled." (*Mysore Archaeological Report*, 1922, page 23)

अर्थात्—'अन्य महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ, उग्रादित्य का चिकित्साशास्त्र पर 'कल्याणकारक' नामक रचना है। यह विद्वान जैन लेखक और राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम तथा पूर्वी चालुक्य राजा कली विष्णुवर्धन पंचम का समकालीन था। ग्रंथ के प्रारंभ में कहा गया है कि चिकित्साविज्ञान दो भागों में बंटा हुआ है—जिनके नाम है 'प्रतिबंधक चिकित्सा' और 'प्रतिकारात्मक चिकित्सा'। तथा, इस ग्रंथ के अंत में संस्कृत गद्य में मांसाहार की निरर्थकता संबंध में विस्तृत संभाषण दिया गया है, जो, बताया जाता है कि, अमोघवर्ष की राजसभा में लेखक ने प्रस्तुत किया था, जहां पर अनेक विद्वान और चिकित्सक एकत्रित थे।

१. 'कल्याणकारक' ग्रंथ का प्रकाशन सोलापुर से सेठ गोविंदजी रावजी दोशी ने सन् १९४० में किया है। इसमें मूल संस्कृत पाठ के अतिरिक्त पं० वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया है। इसके संपादन हेतु चार हस्तलिखित प्रतियों की सहायता ली गयी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थकार-परिचय—ग्रन्थ 'कल्याणकारक' में कर्ता का नाम उग्रादित्य दिया हुआ है। उनके माता-पिता और मूल निवास आदि का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। परिग्रहत्याग करने वाले जैन साधु के लिए अपने वंश-परिचय को देने का विशेष आग्रह और आवश्यकता भी प्रतीत नहीं होती। हाँ, गुरु का और अपने विद्यापीठ का परिचय विस्तार से उग्रादित्य ने लिखा है।

गुरु—उग्रादित्य ने अपने गुरु का नाम **श्रीनन्दि** बताया है। वह सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र (**प्राणावाय**) के ज्ञाता थे। उनसे उग्रादित्य ने प्राणावाय में वर्णित दोषों, दोषज उग्ररोगों और उनकी चिकित्सा आदि का सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर इस ग्रन्थ (कल्याणकारक) में प्रतिपादन किया है।[1]

इससे ज्ञात होता है कि श्रीनन्दि उस काल में **'प्राणावाय'** के महान् विद्वान् और प्रसिद्ध आचार्य थे।

श्रीनन्दि को 'विष्णुराज' नामक राजा द्वारा विशेष रूप से सम्मान प्राप्त था। कल्याणकारक में लिखा है[2]—

"महाराजा विष्णुराज के मुकुट की माला से जिनके चरणयुगल शोभित हैं अर्थात् जिनके चरण कमल में विष्णुराज नमस्कार करता है, जो सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता हैं, प्रशंसनीय गुणों से युक्त हैं, मुनियों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे आचार्य श्रीनन्दि मेरे गुरु हैं और उनसे ही मेरा उद्धार हुआ है।

उनकी आज्ञा से नाना प्रकार के औषध-दान की सिद्धि के लिए (अर्थात् चिकित्सा की सफलता के लिए) और सज्जन वैद्यों के वात्सल्यप्रदर्शनरूपी तप की पूर्ति के लिए, जिन-मत (जैनागम) से उद्धृत और लोक में 'कल्याणकारक' के नाम से प्रसिद्ध इस शास्त्र को मैंने बनाया।"

'विष्णुराज' के लिए यहाँ 'परमेश्वर' का विरुद लिखा गया है।

यह परमश्रेष्ठ शासक का सूचक है। यह विष्णुराज ही पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम था, जो उग्रादित्य का समकालीन था, ऐसा नरसिंहाचार्य का मत उनके उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है।[3] परन्तु पूर्वी चालुक्य राजा कलि विष्णुवर्धन पंचम का शासनकाल ई० ८४७ से ८४८ तक ही रहा। एक वर्ष की अवधि में किसी राजा द्वारा महान् कार्य सम्पादन कर पाना प्रायः संभव ज्ञात नहीं होता।

श्री वर्धमान शास्त्री का अनुमान है—"यह विष्णुराज अमोघवर्ष के पिता गोविंदराज तृतीय का ही अपर नाम होना चाहिए। कारण महर्षि जिनसेन ने 'पार्श्वाभ्युदय' में अमोघवर्ष का परमेश्वर की उपाधि से उल्लेख किया है। हो सकता है कि यह उपाधि राष्ट्रकूटों की परंपरागत हो।"[4]

---

१. (अ) क. का. प. २१, श्लोक ८४—

'श्रीनंद्याचार्यादशेषागमज्ञाद् ज्ञात्वा दोषान् दोषजानुग्ररोगान्।
तद्भैषज्यक्रमं चापि सर्वं प्राणावायादुद्धृत्य नीतम्॥

(आ) क. का., प. २१, श्लोक ३—

श्रीनंदिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिक्षाप्रदः सर्वदा।
प्राणावायनिरूपितमर्थमखिलं सर्वज्ञसंभाषितं॥
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्रं स्वयं नान्यथा।

२. क. का., प. २५, श्लोक ५१-५२

"श्रीविष्णुराजपरमेश्वर मौलिमाला—
संलालितांघ्रियुगलः सकलागमज्ञः।

आलापनीयगुणसोन्नत सन्मुनीन्द्रः
श्रीनंदिनंदितगुरुर्गुरुर्जितोऽहम्॥
तस्याज्ञया विविधभेषजदानसिद्ध्यै

सद्वैद्यवत्सलतपः परिपूरणार्थम्।
शास्त्रं कृतं जिनमतोद्धृतमेतदुद्यत्
कल्याणकारकमिति प्रथितं धरायाम्॥

३. Narasinghacharya—Mysore Archaeological Report, 1922, Page 23.

४. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याणकारक, उपोद्घात, पृ० ४२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह मत मान्य नहीं, केवल अनुमान पर आधारित है क्योंकि पहले राष्ट्रकूटों का वेंगि पर अधिकार नहीं था। अमोघवर्ष प्रथम ने उस पर सबसे पहले अधिकार किया था।

यह विष्णुराज, जो वेंगि का शासक था, निश्चय ही कलि विष्णुवर्धन और अमोघवर्ष प्रथम से पूर्ववर्ती विष्णुवर्धन चतुर्थ नामक अत्यंत प्रभावशाली और जैन मतानुयायी पूर्वी चालुक्य राजा था। इसका शासनकाल ई० ७६४ से ७९९ तक रहा।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने भी यही उल्लिखित किया है कि विष्णुवर्धन चतुर्थ चालुक्य राजा के काल में श्रीनन्दि सम्मानित हुए थे।[1]

निवासस्थान और काल—

उग्रादित्य की निवासभूमि 'रामगिरि' थी, जहाँ उन्होंने श्रीनन्दि गुरु से विद्याध्ययन तथा 'कल्याणकारक' ग्रंथ की रचना की थी।

कल्याणकारक में लिखा है—

> **"वेंगीशत्रिकलिंगदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः**
> **प्रोद्यद्वृक्षलतावितानविरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः।**
> **सर्वे मंदिर कंदरोपमगुहाचैत्यालयालंकृते**
> **रम्ये रामगिरौ मया विरचितं शास्त्रं हितं प्रणिनाम्॥**
> (क० का० परि० २०, श्लोक ८७)।[2]

'रामगिरि' की स्थिति के विषय में विवाद है। श्री नाथूराम प्रेमी का मत है कि छत्तीसगढ़ (महाकौशल) क्षेत्र के सरगुजा स्टेट का रामगढ़ ही यह रामगिरि होगा। यहाँ गुहा, मंदिर और चैत्यालय हैं तथा उग्रादित्य के समय यहाँ सिद्ध और विद्याधर विचरण करते रहे होंगे।[3]

उपर्युक्त पद्य में रामगिरि को त्रिकलिंग प्रदेश का प्रधान स्थान बताया गया है। गंगा से कटक तक के प्रदेश को उत्कल या उत्तरकलिंग, कटक से महेन्द्रगिरि तक के पर्वतीय भाग को मध्यकलिंग और महेन्द्रगिरि से गोदावरी तक के स्थान को दक्षिण कलिंग कहते थे। इन तीनों की मिलित संज्ञा 'त्रिकलिंग' थी।

कालिदास द्वारा वर्णित रामगिरि भी यही स्थान होना चाहिए जो लक्ष्मणपुर से १२ मील दूर है। पद्मपुराण के अनुसार यहाँ रामचन्द्र ने मंदिर बनवाये थे। यहाँ पर्वत में कई गुफाएं और मंदिरों के भग्नावशेष हैं।[4]

वस्तुतः यह 'रामगिरि', विजगापट्टम जिले में रामतीर्थ नामक स्थान है। यहाँ पर 'दुर्ग पंचगुफा' की भित्ति पर एक शिलालेख भी है। इसमें किसी एक पूर्वीय चालुक्यराजा के संबंध में जानकारी दी हुई है। यह शिलालेख ई० १०११-१२ का है। इससे यह प्रकट होता है कि रामतीर्थ जैनधर्म का एक पवित्र स्थान था और यहाँ अनेक जैन अनुयायी रहते थे। उक्त शिलालेख में 'रामतीर्थ को 'रामकोंड' भी लिखा है। पं० कैलाशचन्द्र के अनुसार—"ईसवीसन् की प्रारंभिक शताब्दियों में रामतीर्थ बौद्धधर्म के अधिकार में था। यहाँ से बौद्धधर्म के बहुत अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह उल्लेखनीय है कि बौद्धधर्म के पतनकाल में कैसे जैनों ने इस स्थान पर कब्जा जमाया और उसे अपने धर्मस्थान के रूप में परिवर्तित कर दिया।"[5]

---

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास, एक दृष्टि: पृष्ठ २६०.

२. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २१२. 'स्थान रामगिरिर्गिरीन्द्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदं' (क. का., प० २१, श्लोक ३)

३. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. २१२.

४. वही, पृ. २१२.

५. पं० कैलाशचंद्र, "दक्षिण में जैनधर्म" पृ. ७०-७१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन ने रामतीर्थ की वैभवपूर्ण कहानी को ११वीं शताब्दी के मध्य तक स्वीकार किया है।

"रामतीर्थ (रामगिरि) ११वीं शताब्दी के मध्य तक प्रसिद्ध एवं उन्नत जैन सांस्कृतिक-केन्द्र बना रहा जैसा कि वहां के एक शिलालेख से प्रमाणित होता है। विमलादित्य (१०२२ ई०) के भी एक कन्नड़ी शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसके गुरु त्रिकालयोगी सिद्धान्तदेव तथा सम्भवतया स्वयं राजा भी जैन तीर्थ के रूप में रामगिरि की वन्दना करने गये थे।"[1]

उग्रादित्य के काल में रामगिरि अपने पूर्ण वैभव पर था। उसका समकालीन शासक वेंगि का पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-७९९ ई०) था। "विष्णुवर्धन चतुर्थ जैनधर्म का बड़ा भक्त था। इस काल में विजगापट्टम (विशाखापत्तनम्) जिले की **रामतीर्थ** या **रामकोंड** नामक पहाड़ियों पर एक भारी जैन सांस्कृतिक-केन्द्र विद्यमान था। त्रिकलिंग (आन्ध्र) देश के वेंगि प्रदेश की समतल भूमि में स्थित यह रामगिरि पर्वत अनेक जैनगुहामन्दिरों, जिनालयों एवं अन्य धार्मिक कृतियों से सुशोभित था। अनेक विद्वान् जैनमुनि वहाँ निवास करते थे। विविध विद्याओं एवं विषयों की उच्च शिक्षा के लिए यह संस्थान एक महान् विद्यापीठ था। वेंगि के चालुक्य नरेशों के संरक्षण एवं प्रश्रय में यह संस्थान फल-फूल रहा था। इस काल में जैनाचार्य श्रीनन्दि इस विद्यापीठ के प्रधानाचार्य थे। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में निष्णात थे। स्वयं महाराज विष्णुवर्धन उनके चरणों की पूजा करते थे। इन आचार्य के प्रधान शिष्य उग्रादित्याचार्य थे जो आयुर्वेद एवं चिकित्साशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। सन् ७९९ ई० के कुछ पूर्व ही उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ कल्याणकारक की रचना की थी। ग्रंथप्रशस्ति से स्पष्ट है कि मूलग्रंथ को उन्होंने नरेश विष्णुवर्धन के ही शासनकाल और प्रश्रय में रचा था।"[2]

'त्रिकलिंग' देश ही आजकल तैलंगाना या तिलंगाना कहलाता है, जो इस शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है। वेंगि राज्य इसी क्षेत्र के अन्तर्गत था।

"वेंगी राज्य की सीमा उत्तर में गोदावरी नदी, दक्षिण में कृष्णा नदी, पूर्व में समुद्रतट और पश्चिम में पश्चिमीघाट थी। इसकी राजधानी वेंगी नगर थी, जो इस समय पेड्डुवेंगी (गोदावरी जिला) नाम से प्रसिद्ध है।"[3]

अतः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उग्रादित्याचार्य मूलतः तैलंगाना (आंध्रप्रदेश) के निवासी थे और उनकी निवास-भूमि 'रामगिरि' (विशाखापट्टम जिले की रामतीर्थ या रामकोंड) नामक पहाड़ियां थीं। वहीं पर जिनालय में बैठकर उन्होंने कल्याणकारक की रचना की थी। उनका काल ८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध था।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य भी प्रगट होता है कि उग्रादित्याचार्य को वास्तविक संरक्षण वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-७९९ ई०) से प्राप्त हुआ था।

६१५ ई० में चालुक्य सम्राट् पुलकेशी द्वितीय ने आंध्रप्रदेश पर अधिकार कर वहां अपने छोटे भाई कुब्जविष्णुवर्धन को प्रान्तीय शासक नियुक्त किया था। इस देश की राजधानी 'वेंगी' थी। पुलकेशी के अंतिमकाल में वेंगी का शासक स्वतंत्र हो गया और उसने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजवंश की स्थापना की। इस राजवंश के नरेशों में जैनधर्म के प्रति बहुत आस्था थी। इसी वंश में पूर्वोक्त विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-७९९ ई०) हुआ। राष्ट्रकूटों के साथ इसके अनेक युद्ध हुए थे। विष्णुवर्धन चतुर्थ जैनधर्म का अनुयायी था। इसकी मृत्यु के बाद इस वंश में जो राजा हुए वे दुर्बल थे। राष्ट्रकूट सम्राट गोविन्द तृतीय (७९३-८१४ ई०) और उसके पुत्र सम्राट अमोघवर्ष प्रथम (८१४-८७८ ई०) ने अनेक बार वेंगि पर आक्रमण कर पूर्वी चालुक्यों को पराजित किया। अतः यह संभावना उचित ही प्रतीत होती है कि चालुक्य सम्राट् विष्णुवर्धन चतुर्थ की मृत्यु के बाद जब पूर्वी चालुक्यों का वैभव समाप्त होने लगा और राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम की प्रसिद्धि और जैनधर्म के प्रति आस्था बढ़ने लगी तो उग्रादित्याचार्य ने अमोघवर्ष प्र० की राजसभा में आश्रय प्राप्त किया हो। संभव है, अमोघवर्ष की मद्य-मांसप्रियता को दूर करने के लिए उन्हें उसकी राजसभा में उपस्थित होना पड़ा हो अथवा उन्हें सम्राट् ने आमंत्रित किया हो। अतः "कल्याणकारक" के अंत में नृपतुंग अमोघवर्ष का भी उल्लेख है।

ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि उग्रादित्याचार्य "कल्याणकारक" की रचना रामगिरि में ही ७९९ ई० तक कर चुके थे। परन्तु बाद में जब अमोघवर्ष प्रथम की राजसभा में आये तो उन्होंने मद्य-माँस-सेवन के निषेध की युक्तियुक्तता प्रतिपादित करते हुए उसके अंत में 'हिताहित' नामक एक नया अध्याय और जोड़ दिया।

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन का भी यही विचार है—

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, "भारतीय इतिहास: एक दृष्टि," पृ० २९१.

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास: एक दृष्टि, पृ० २८९-९०

३. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ८६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"आचार्य उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना ८०० ई० के पूर्व ही कर ली थी किंतु अमोघवर्ष के आग्रह पर उन्होंने उसकी राजसभा में आकर अनेक वैद्यों एवं विद्वानों के समक्ष मद्य-मांस-निषेध का वैज्ञानिक विवेचन किया और इस ऐतिहासिक भाषण को 'हिताहित अध्याय' के नाम से परिशिष्ट रूप में अपने ग्रंथ में सम्मिलित किया।"[१]

इस प्रकार आचार्य उग्रादित्य का उत्तरकालीन जीवन दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशीय सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम का समकालीन रहा।[२] इस शासक का शासनकाल ८१४ से ८७८ ई० रहा था।

सम्राट अमोघवर्ष प्रथम को नृपतुंग, महाराजशर्व, महाराजशण्ड, वीरनारायण, अतिशयधवल, शर्ववर्म, वल्लभराय, श्रीपृथ्वीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ, महाराजाधिराज, भटार, परमभट्टारक आदि विरुद प्राप्त थे।[३] यह गाविन्द तृतीय का पुत्र था। जिस समय सिंहासन पर बैठा, उस समय उसकी आयु ६-१० वर्ष की थी अतः गुर्जरदेश का शासक, जो उसके चाचा इन्द्र का पुत्र था, कर्कराज उसका अभिभावक और संरक्षक बना। ८२१ ई० में अमोघवर्ष के वयस्क होने पर कर्कराज ने विधिवत् राज्याभिषेक किया।

अमोघवर्ष के पिता गोविन्द तृतीय ने एलोरा और मयूरखंडी (नासिकवोगस) से हटाकर राष्ट्रकूटों की नवीन राजधानी मान्यखेट (मलखेड) में स्थापित की थी। परंतु उसके काल में इसकी बाहरी प्राचीर मात्र निर्माण हो सकी। अमोघवर्ष ने अनेक सुंदर भव्य-प्रसादों, सरोवरों और भवनों के निर्माण द्वारा उसका अलंकरण किया।

अमोघवर्ष एक शांतिप्रिय और धर्मात्मा शासक था। युद्धों का संचालन प्रायः उसके सेनापति और योद्धा ही करते रहे। अतः उसे वैभव, समृद्धि और शक्ति को बढ़ाने का खूब अवसर प्राप्त हुआ।

"८५१ ई० में अरब सौदागर सुलेमान भारत आया था। उसने 'दीर्घायु बलहरा' (बल्लभराय) नाम से अमोघ का वर्णन किया है और लिखा है कि उस समय संसार-भर में जो सर्वमहान् चार सम्राट् थे वे भारत का वल्लभराय (अमोघवर्ष), चीन का सम्राट्, बगदाद का खलीफा और रूम (कुस्तुन्तुनिया) का सम्राट् थे।"[४]

स्वयं वीर, गुणी और विद्वान् होने के साथ उसने अनेक विद्वानों, कवियों और गुणियों को अपनी राजसभा में आश्रय प्रदान किया था। इसके काल में संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़ी और तमिल भाषाओं के विविध विषयों के साहित्य-सृजन में अपूर्व प्रोत्साहन मिला।

सम्राट् अमोघवर्ष दिगम्बर जैनधर्म का अनुयायी और आदर्श जैन श्रावक था। वीरसेन स्वामी के शिष्य आचार्य जिनसेनस्वामी का वह शिष्य था। जिनसेन स्वामी उसके राजगुरू और धर्मगुरु थे।[५] जैसाकि गुणभद्राचार्य कृत "उत्तर-पुराण' (८६८ ई०) में लिखा है—

"यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारांतराविर्भाव-
त्पादाम्भोजरजः पिशंगमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोहमद्येत्यलम्
स श्रीमाञ्जिनसेनपूज्यभगत्पादो जगन्मंगलम्॥"

आचार्य जिनसेन द्वारा रचित 'पार्श्वाभ्युदय' नामक महान् काव्य में सर्ग के अंत में इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनम् नाम चतुर्थः सर्गः इत्यादि।"

अतः आचार्य जिनसेन का अमोघवर्ष का गुरू होना प्रमाणित है।

---

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास; एक दृष्टि, पृ० ३०२.
२. भारत के प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृ० ३८.
३. प्रो० सालेतोर, Mediaval Jainism, p. 38: पं० कैलाशचंद्र दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृ० ९०.
४. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय इतिहास: एक दृष्टि, पृ० ३०१.
५. प्रोफेसर सालेतोर, Mediaval Jainism, p. 38.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमोघवर्ष ने जैन विद्वानों को भी महान संरक्षण प्रदान किया और अनेक जैन मुनियों को दान दिये। वह स्याद्वादविद्या का प्रेमी था। इसके आश्रित प्रसिद्ध गणिताचार्य महावीराचार्य ने अपने जैन गणित ग्रन्थ 'गणितसार संग्रह' में अमोघवर्ष को स्याद्वादसिद्धांत का अनुकरण करने वाला कहा है।

इसके शासनकाल और आश्रय में 'सिद्धान्तग्रन्थ' की 'जयधवला' नामक टीका (ई० ८३७) की पूर्ति जिनसेन स्वामी ने की। इस टीका का लेखन प्रारम्भ उनके गुरु वीर सेन स्वामी ने किया था। इसके अतिरिक्त आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्ति ने 'शब्दानुशासन' व्याकरण और उसकी अमोघवृत्ति की रचना की। स्वयं सम्राट् अमोघवर्ष ने संस्कृत में 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' नामक नीतिग्रन्थ और कन्नड़ी में 'कविराजमार्ग' नामक छंद अलंकार का शास्त्रग्रन्थ रचा था।

'प्रश्नोत्तररत्नमाला' से ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष ने अपने पिता के समान ही जीवन के अंतिमकाल में राज्य त्याग दिया था।[1] ६० वर्ष राज्य करने के बाद ८७५-७६ ई० के लगभग अपने ज्येष्ठपुत्र कृष्ण द्वितीय को राज्य सौंप कर अमोघवर्ष श्रावक के रूप में जीवन यापन करने लगे।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यही अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग वल्लभराय आचार्य उग्रादित्य का समकालीन शासक था। इसका प्रमाण हमें 'कल्याणकारक' की निम्न पंक्तियों में मिलता है —

"ख्यातः श्रीनृपतुंगवल्लभ-महाराजाधिराजस्थितः।
प्रोद्यद्भूरिसभांतरे बहुविधप्रख्यातविद्वज्जने ॥

मांसाशिप्रकरेन्द्रताखिलभिषग्विद्याविदामग्रतो।
मांसे निष्फलतां निरूप्य नितरां जैनेन्द्रवैद्यस्थितम् ॥"

इत्यशेषविशेषविशिष्टदुष्टपिशिताशिवैद्यशास्त्रेषु मांसनिराकरणार्थमुग्रादित्याचार्यैर्नृपतुंगवल्लभेंद्रसभायामुद्घोषितं प्रकरणम्।" (कल्याणकारक, हिताहिताध्याय, समाप्तिसूचक अंश)।

अर्थात् 'प्रसिद्ध नृपतुंग वल्लभ (राय) महाराजाधिराज की सभा में, जहाँ अनेक प्रकार के प्रसिद्ध विद्वान् थे, मांस भक्षण की प्रधानता का पोषण करने वाले वैद्यकविद्या के विद्वानों (वैद्यों) के सामने इस जैनेन्द्र (जैन मतानुनायी) वैद्य ने उपस्थित होकर मांस की निष्फलता (निरर्थकता) को पूर्णतया सिद्ध कर दिया। इस प्रकार, सभी विशिष्ट, दुष्ट मांस के भक्षण की पुष्टि करने वाले वैद्य शास्त्रों में मांस का निराकरण करने के लिए उग्रादित्याचार्य ने इस प्रकरण को नृपतुंग वल्लभ राजा की सभा में उद्घोषित किया।

इस वर्णन में जिस राजा के लिए उग्रादित्याचार्य ने 'नृपतुंग', 'वल्लभ', 'महाराजाधिराज', 'वल्लभेन्द्र' विरुदों का प्रयोग किया है, वह स्पष्टरूप से राष्ट्रकूटवंशीय प्रतापी सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (८१४-८७७ ई०) ही था। क्योंकि, ये सभी विरुद उसके लिए ही प्रयुक्त हुए हैं, जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं। अतएव श्री नाथूराम प्रेमी का यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता—'उग्रादित्य राष्ट्रकूट अमोघवर्ष के समय के बतलाये गये हैं, परन्तु इसमें संदेह है। उसकी प्रशस्ति की भी बहुत-सी बातें संदेहास्पद हैं।[2]

कृति-परिचय

उग्रादित्याचार्य की एक मात्र वैद्यककृति 'कल्याणकारक' मिलती है। इसमें कुल २५ 'परिच्छेद' (अध्याय) हैं और उनके बाद परिशिष्ट के दो अध्याय हैं—१ रिष्टाध्याय, और २ हिताहिताध्याय। इन परिच्छेदों के नाम इस प्रकार हैं—

(अ) **स्वास्थ्यरक्षणाधिकार** के अंतर्गत परिच्छेद—

१. शास्त्रावतार, २. गर्भोत्पत्तिलक्षण, ३. सूत्रव्यावर्णनम् (शरीर का वर्णन), ४ धान्यादिगुणागुण-विचार, ५. अन्नपानविधि, ६. रसायनविधि।

---

१. विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
"चिताऽमोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥" (प्र० र० मा०)

२. श्री नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(आ) **चिकित्साधिकार** के अंतर्गत परिच्छेद—

७. व्याधिसमुद्देश, ८. वातरोगचिकित्सित, ९. पित्तरोगचिकित्सित, १०. श्लेष्मव्याधिचिकित्सित, ११. महामयचिकित्सित, (प्रमेह, कुष्ठ, उदर), १२ महामयचिकित्सित (वातव्याधि, मूढगर्भ, अर्श), १३. महामयचिकित्सित (अश्मरी, भगंदर) तथा क्षुद्ररोग-चिकित्सित (वृद्धि) १४. क्षुद्ररोगचिकित्सित (उपदंश, शूकदोष, श्लीपद, अपची, गलगंड, नाडीव्रण, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, क्षुद्ररोग) १५ क्षुद्ररोग चिकित्सित (शिरोरोग, कर्णरोग, नासारोग, मुखरोग, नेत्ररोग), १६ क्षुद्ररोग चिकित्सित (श्वास, कास, विरस, तृष्णा, छर्दि, अरोचक, स्वर भेद, उदावर्त, हिक्का, प्रतिश्याय), १७ क्षुद्ररोगचिकित्सित (हृद्रोग, क्रिमिरोग, अजीर्णरोग, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, योनिरोग, गुल्म, पाण्डुरोग, कामला, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार), १८ क्षुद्ररोगचिकित्सित (राजयक्ष्मा, मसूरिका, बालग्रह, भूततंत्र), १९ सर्वविष चिकित्सित, २० शास्त्रसंग्रहतंत्रयुक्ति।

(इ) इसके बाद 'उत्तरतंत्र' प्रारम्भ होता है। इसके अंतर्गत परिच्छेद २१ कर्मचिकित्साधिकार (चतुर्विधकर्म-चिकित्सा-क्षार, अग्नि, शस्त्र, औषध; जलौका, शिराव्यध) २२. भेषजकर्मोपद्रवचिकित्साधिकार (स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, बस्ति-अनुवासन-निरूह, के असम्यक् प्रयोग से होने वाली आपत्तियों के भेद व प्रतीकार), २३ सर्वौषधिकर्मव्यापच्चिकित्साधिकार (उत्तरबस्ति, वीर्यरोग, शुद्धशुक्र, शुद्धार्तव, गर्भादानविधि, गर्भिणीचर्या, प्रसव, सूतिकोपचार, धूम, कवलग्रह, नस्यविधि, व्रणशोथ-शोथ, पूतिनाशक लेप, केशकृष्णीकरण योग) २४ रसरसायनसिध्यधिकार (रस, रससंस्कार, मूर्च्छन, मारण, बंधन, रसशाला, रसनिर्माण, रसप्रयोग), २५ कल्पाधिकार (हरीतकी, आमलक, त्रिफला, शिलाजतु, वाम्येषा ? कल्प, पाषाणभेदकल्प, भल्लातपाषाणकल्प, खर्परीकल्प, वज्रकल्प, मृत्तिकाकल्प, गोश्रृंग्यादिकल्प, एरंडादिकल्प, नाग्यादिकल्प, क्षारकल्प, चित्रककल्प, त्रिफलादिकल्प)।

अंतिम दो परिशिष्टाध्यायों में प्रथम 'रिष्टाध्याय' में मरणसूचक लक्षणों व चिह्नों का निरूपण किया गया है। द्वितीय, 'हिताहितोध्याय' में मांसभक्षण निषेध का युक्तियुक्त विवेचन है। इस अध्याय में स्वयं आचार्य उग्रादित्य की संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

ग्रंथ का उद्देश्य—

उग्रादित्याचार्य ने लिखा है—"स्वयं के यश के लिए या विनोद के लिए या कवित्व के गर्व के लिए या हमारे पर लोगों की अभिरुचि जागृत करने के लिए मैंने इस ग्रंथ की रचना नहीं की है; अपितु यह समस्त कर्मों का नाश करने वाला जैनसिद्धांत है, ऐसा स्मरण करते हुए इसकी रचना की है।"

"जो विद्वान् मुनि आरोग्यशास्त्र को भलीभाँति जानकर उसके अनुसार आहार-विहार करते हुए स्वास्थ्य-रक्षा करते हैं वह सिद्धसुख को प्राप्त करता है। इसके विपरीत जो आरोग्य की रक्षा न करते हुए अपने दोषों से उत्पन्न रोगों, शरीर को पीड़ा पहुंचाते हुए, अपने अनेक प्रकार के दुष्परिणामों के भेद से कर्म से बंध जाता है।"

"बुद्धिमान् व्यक्ति दृढ़ मन वाला होने पर भी यदि रोगी हो, वह न धर्म कर सकता है, न धन कमा सकता है और न मोक्षसाधन कर सकता है। इन पुरुषार्थों की प्राप्ति न होने से वह मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं रह जाता।"

"इस प्रकार उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत यह शास्त्र कर्मों के मर्मभेदन करने के लिए शस्त्र के समान है। सब कामों में निपुण लोग इसे जानकर (अर्थात् इस शास्त्र में प्रवीण होकर) और इसके अनुसार आचरण-आरोग्यसम्पादन कर धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करते हैं।[1]

---

१. (अ) क. का, प. २०, श्लोक ८८.

न चात्मयशसे विनोदननिमित्ततो वापि सत्कवित्वनिजगर्वतो न च जनानुरागाशयात्।
वृतं प्रथितशास्त्रमेतदरुजैनसिद्धान्तमित्यहर्निशमनुस्मराम्यखिलकर्मनिर्मूलनम् ॥
आरोग्यशास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित् स्वास्थ्यं स साधयति सिद्धसुखैकहेतुम्।
अन्यस्स्वदोषकृतरोगनिपीडितांगो बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात् ॥८९॥
न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।
नरो बुद्धिमान् धीरसत्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशद्भवेन्नैव मर्त्यः ॥९०॥
इत्युग्रादित्याचार्यवर्यप्रणीतं शास्त्रं शस्त्रं कर्मणां मर्मभेदी।
ज्ञात्वा मर्त्यैस्सर्वकर्मप्रवीणैः लभ्यंतैके धर्मकामार्थमोक्षाः ॥९१॥

(आ) क. का. १-११-१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रंथारम्भ में उग्रादित्य ने लिखा है—

"महर्षि लोग स्वाध्याय को ही तपस्या का मूल मानते हैं। अतः वैद्यों के प्रति वात्सल्यभाव से ग्रन्थ रचना करने को मैं प्रधान तपश्चर्या मानता हूं। अतः मैंने इस पर कल्याणकारी तपश्चरण ही यत्नपूर्वक प्रारम्भ किया है।"[1]

ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय—

जैन तीर्थंकरों की वाणी को विषयानुसार बाँटकर उनके बारह विभाग किये गये हैं। इन्हें आगम के 'द्वादश-अंग' कहते हैं। इनमें बारहवां 'दृष्टिवाद' नामक अंग है, उसके ५ भेदों में एक भेद 'पूर्व' या 'पूर्वगत' कहलाता है। पूर्व के भी १४ भेद हैं। इनमें 'प्राणावाय' नामक एक भेद है। इसमें विस्तारपूर्वक अष्टांग आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा और शरीर शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है। यही इस ग्रन्थ का मूल या प्रतिपाद्य विषय है।

रामगिरि में श्रीनंदि से 'प्राणावाय' का अध्ययन कर उग्रादित्य ने इस ग्रन्थ की रचना की थी।

प्राणावाय सम्पूर्ण मूल का प्राचीनतम साहित्य अर्धमागधी भाषा में निर्मित हुआ था। ध्यान रहे कि जैन परम्परा का समग्र आगम-साहित्य महावीर की मूल भाषा अर्धमागधी में ही रचा गया था। हर प्रकार से सुखकर इस शास्त्र प्राणावाय के उस विस्तृत विवेचन को यथावत् संक्षेप रूप में संस्कृत भाषा में उग्रादित्य ने इस ग्रन्थ में वर्णित किया है। अर्धमागधी भाषा उनके समय तक संभवतः कुछ अप्रचलित हो चुकी थी। देशभर में सर्वत्र संस्कृत की मान्यता और प्रचलन था। अतः उग्रादित्य को अपने ग्रंथ को सर्वलोक-भोग्य और सम्मान्य बनाने हेतु संस्कृत में रचना करनी पड़ी।[2]

स्वयं ग्रंथकार की प्रशस्ति के आधार पर—"यह कल्याणकारक नामक ग्रंथ अनेक अलंकारों से युक्त है, सुन्दर शब्दों से ग्रथित है, सुनने में सुखकर है, अपने हित की कामना करने वालों की प्रार्थना पर निर्मित है, प्राणियों के प्राण, आयु, सत्त्व, वीर्य, बल को उत्पन्न करने वाला और स्वास्थ्य का कारणभूत है। **पूर्व के गणधरादि द्वारा प्रतिपादित 'प्राणावाय' के महान् शास्त्र रूपी निधि से उद्भूत है**। अच्छी युक्तियों या विचारों से युक्त है, जिनेन्द्र भगवान् (तीर्थंकर) द्वारा प्रतिपादित है। ऐसे शास्त्र को प्राप्त कर मनुष्य सुख प्राप्त करता है।"

"जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यह शास्त्र विभिन्न छंदों (वृत्तों) में रचित प्रमाण, नय और निक्षेपों का विचार सार्थक रूप से **दो हजार पाँच सौ तेरासी** छंदों में रचा गया है और जब तक सूर्य, चन्द्र और तारे मौजूद हैं तब तक प्राणियों के लिए सुखसाधक बना रहेगा।"[3]

---

१. क. का. १-१३

स्वाध्यायमाहुरपरे तपसां हि मूलं मन्ये च वैद्यवरवत्सलताप्रधानम्।
तस्मात्तपश्चरणमेव मया प्रयत्नादारभ्यते स्वपरसौख्यविधायि सम्यक्॥

२. क. का. प. २५-५४

'सर्वार्धाधिकमागधीयविलसद्भाषाविशेषोज्ज्वलात्।
प्राणावायमहागमादवितथं संगृह्य संक्षेपतः॥
उग्रादित्यगुरुगुरुगुणैरुद्भासि सौख्यास्पदं।
शास्त्रं संस्कृतभाषया रचितवानित्येष भेदस्तयोः॥

३. क. का. २५-५५-५६.

सालंकारं सुशब्दं श्रवणसुखमथ प्राथितं स्वार्थविद्भिः।
प्राणायुस्सत्ववीर्यप्रकटबलकरं प्राणिनां स्वस्थहेतुम्॥
निध्युद्भूतं विचारक्षममिति कुशलाः शास्त्रमेतद्यथावत्।
कल्याणाख्यं जिनेन्द्रैर्विरचितमधिगम्याशु सौख्यं लभंते॥५५॥
अध्यर्धद्विसहस्रकैरपि तथाशीतित्रयैरसोत्तरैः वृत्तैस्संचारितैरिहाधिकमहावृत्तैर्जिनेंद्रोदितः।
प्रोक्तं शास्त्रमिदं प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचार्यार्थवज्जीयात्तद्रविचंद्रतारकमलं सौख्यास्पदं प्राणिनाम्॥५६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

:प्राणावाय' का प्रतिपादक होने का प्रमाण देते हुए उग्रादित्य ने कल्याणकारक में प्रत्येक परिच्छेद के अंत में लिखा है—"जिसमें संपूर्ण द्रव्य, तत्व व पदार्थरूपी तरंग उठ रहे हैं जिसके इहलोक-परलोक के लिए प्रयोजन-भूत अर्थात् साधनरूपी दो सुंदर तट हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र के मुख से बाहर निकले हुए शास्त्ररूपी सागर की एक बून्द के समान यह शास्त्र (ग्रन्थ) है। यह जगत् का एकमात्र हित-साधक है (अतः इसका नाम 'कल्याणकारक' है)।"[1]

शास्त्र की परम्परा—

'कल्याणकारक' के प्रारंभिक भाग (प्रथम परिच्छेद के आरम्भ के दस पद्यों में) आचार्य उग्रादित्य ने मर्त्यलोक के लिए जिनेन्द्र के मुख से आयुर्वेद (प्राणावाय) के प्रकटित होने का कथानक दिया है।[2]

भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे। उनके समवसरण में भरत चक्रवर्ती आदि ने पहुंचकर लोगों के रोगों को दूर करने और स्वास्थ्य रक्षा का उपाय पूछा। तब प्रमुख गणधरों को उपदेश देने हेतु भगवान् ऋषभदेव के मुख से सरस शारदादेवी बाहर प्रकटित हुई। उनकी वाणी में पहले पुरुष, रोग, औषध और काल—इस प्रकार संपूर्ण आयुर्वेद शास्त्र के चार भेद बताते हुए इन वस्तुचतुष्टयों के लक्षण, भेद, प्रभेद आदि सब बातों को बताया गया। इन सब तत्त्वों को साक्षात रूप से **गणधर** ने समझा। गणधरों द्वारा प्रतिपादित शास्त्र को निर्मल, यति, श्रुति, अवधि व मनःपर्यय ज्ञान को धारण करने वाले योगियों ने जाना।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण आयुर्वेदशास्त्र ऋषभनाथ तीर्थंकर के बाद महावीर पर्यंत तीर्थंकरों तक चला आया। यह अत्यंत विस्तृत है, दोषरहित है, गंभीर वस्तु-विवेचन से युक्त है। तीर्थंकरों के मुख से निकला हुआ यह ज्ञान '**स्वयंभू**' है और अनादिकाल से चला आने के कारण '**सनातन**' है। गोवर्धन, भद्रबाहु आदि श्रुतकेवलियों के मुख से, अल्पांग ज्ञानी या अंगांग-ज्ञानी मुनियों द्वारा साक्षात् सुना हुआ है। अर्थात् श्रुतकेवलियों ने अन्य मुनियों को इस ज्ञान को दिया था।

इस प्रकार प्राणावाय (आयुर्वेद) संबंधी ज्ञान मूलतः तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित है अतः यह 'आगम' है। उनसे इसे गणधर प्रतिगणधरों ने; उनसे श्रुतकेवली; और उनसे बाद में होने वाले अन्य मुनियों ने क्रमशः प्राप्त किया।

इस तरह परंपरा से चले आ रहे इस शास्त्र की सामग्री को गुरु श्रीनन्दि से सीखकर उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' ग्रन्थ की रचना की। अतः कल्याणकारक परम्परागत ज्ञान के आधार रचित शास्त्र है।[3]

---

१. (अ) क. का. प्रत्येक परिच्छेद के अंत में—
"इति जिनवक्त्रनिर्गतसुशास्त्रमहांबुनिधेः ।
सकलपदार्थविस्तृततरंगकुलाकुलतः ॥
उभयभवार्थसाधन तटद्वय भासुरतो ।
निसृतमिदं हि शीकरनिभं जगदेकहितम् ॥"
(आ) "प्राग्भाषितं जिनवरैरधुना मुनींद्रोग्रादित्य—पण्डितमहागुरुभिः प्रणीतम् ।"
(क. का २५/५३)

२ क. का. प. १/६-१०

शास्त्रपरम्परागमनक्रम—

दिव्यध्वनिप्रकटितं परमार्थजातं साक्षात्तथा गणधरोऽधिजगे समस्तम् ।
पश्चात् गणाधिपनिरूपितवाक्प्रपंच मष्टार्धनिर्मलधियो मुनयोऽधिजग्मु: ॥ ९ ॥
एवं जिनांतरनिबन्धनसिद्धमार्गादायातमायतमनाकुलमर्थगाढम् ।
स्वायंभुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षाच्छ्रुतं श्रुतदलैः श्रुतकेवलिभ्यः ॥ १० ॥

३. क. का. २१/३

स्थानं रामगिरिर्गिरींद्रसदृशः सर्वार्थसिद्धिप्रदः ।
श्रीनन्दिप्रभवोऽखिलागमविधिः शिक्षाप्रदःसर्वदा ॥
प्राणावायनिरूपितार्थमखिलं सर्वज्ञसम्भाषितं ।
सामग्रीगुणता हि सिद्धिमधुना शास्त्रं स्वयं नान्यथा ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'कल्याणकारक' आधारभूत जैन-आयुर्वेद ग्रंथ—

'कल्याणकारक' की रचना से पूर्व जिन जैन आयुर्वेदज्ञों ने ग्रन्थों का प्रणयन किया था, उनका उल्लेख उग्रादित्य ने निम्न पंक्तियों में किया है—

> *"शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्र-*
> **स्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः।**
>
> **काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां**
> **वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ।। (क० का० २०/८५)**

आयुर्वेद के आठ अंग हैं। आठ अंगों पर पृथक्-पृथक् जैन आयुर्वेद ग्रंथ रचे गये थे। इन ग्रंथों के नाम व उनके प्रणेता के नाम निम्नानुसार हैं :

(१) शालाक्यतंत्र	पूज्यपाद
(२) शल्यतंत्र	पात्रस्वामि
(३) विष और उग्रग्रहशमनविधि (अगदतंत्र और भूतविद्यापरक)	सिद्धसेन
(४) कायचिकित्सा	दशरथगुरु
(५) शिशुचिकित्सा (कौमारभृत्य)	मेघनाद
(६) दिव्यामृत (रसायन) और वृष्य (वाजीकरण)	सिंहनाद (पाठांतर-सिंहसेन)

इनके अतिरिक्त समंतभद्राचार्य ने इन आठों अंगों को एक साथ पूर्ण रूप से विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने वाले वैद्यग्रंथ की रचना की थी। उसी के आधार पर उग्रादित्य ने संक्षेप में वर्णन करते हुए 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी—

> **"अष्टांगमप्यखिलमत्र समंतभद्रैः प्रोक्तं**
> **सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात् ।**
> **संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या**
> **कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ।। (क० का० प्र० २०/८६)**

इस शास्त्र (प्राणावाय) का अध्ययन उग्रादित्य ने श्रीनंदि से किया था। वे उस काल के प्राणावाय के महान् आचार्य थे।

ग्रन्थगत विशेषताएँ—

प्राणावाय-परम्परा का उल्लेख करने वाला यह एकमात्र ग्रन्थ उपलब्ध है। संभवतः इसके पूर्व और पश्चात् का एतद्विषयक साहित्य काल-कवलित हो चुका है। इसमें 'प्राणावाय' की दिगम्बर सम्मत परम्परा दी गई है। अपने पूर्वाचार्यों के रूप में तथा जिन ग्रन्थों को आधार-भूत स्वीकार किया गया है उनके प्रणेताओं के रूप में उग्रादित्य ने जिन मुनियों और आचार्यों का उल्लेख किया है, वे सभी दिगम्बर-परम्परा के हैं। अतः यह निश्चित रूप से कह सकना संभव नहीं कि इस संबंध में श्वेताम्बर-परम्परा और उसके आचार्य कौन थे। फिर भी ग्रन्थ की प्राचीनता (८वीं शती में निर्माण होना) और रचनाशैली व विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए कल्याणकारक का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे निम्न हैं—

(१) **ग्रंथ के उपक्रम भाग में आयुर्वेद के अवतरण**—मर्त्यलोक की परम्परा का जो निरूपण किया गया है, वह सर्वथा नवीन है। इस प्रकार के अवतरण संबंधी कथानक आयुर्वेद के अन्य प्रचलित एवं उपलब्ध शास्त्रग्रन्थों, जैसे चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, काश्यपसंहिता, अष्टांग संग्रह आदि में प्राप्त नहीं होता। कल्याणकारक का वर्णन 'प्राणावाय'-परम्परा का सूचक है। अर्थात् प्राणावाय' संज्ञक जैन-आगम का अवतरण तीर्थंकरों की वाणी में होकर जन-सामान्य तक पहुंचा—इस ऐतिहासिक परम्परा का इसमें वर्णन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चरक आदि ग्रन्थों में आयुर्वेद के अवतरण का जो निरूपण है, उसका क्रम इस प्रकार है—

ब्रह्मा
|
दक्षप्रजापति
|
अश्विनीकुमार-द्वय
|
इन्द्र
|
ऋषि-मुनि-गण

आयुर्वेद के इन ग्रन्थों में आयुर्वेद को वैदिक आस्तिक शास्त्र माना गया है। अतः इसका उद्भव अन्य वैदिक आस्तिक शास्त्रों (कामशास्त्र, नाट्यशास्त्र आदि) की भांति ब्रह्मा से स्वीकार किया गया है। वस्तुतः ब्रह्मा, वैदिकज्ञान का सूचक प्रतीक है।

'प्राणावाय' परम्परा में ज्ञान का मूल तीर्थकरों की वाणी को माना गया है। यह परम्परा इस प्रकार चलती है—

तीर्थकरों की वाणी (आगम)
|
गणधर और प्रतिगणधर
|
श्रुतकेवली
|
बाद में ऋषि-मुनि

इस प्रकार वैदिक आयुर्वेद की मान्यपरम्परा और प्राणावाय-परम्परा में यह अन्तर है।

२. कल्याणकारक में कहीं पर भी चिकित्सा में मद्य, मांस और मधु का प्रयोग नहीं बताया गया है। जैन-मतानुसार ये तीनों वस्तुएं असेव्य हैं। मांस और मधु के प्रयोग में जीव-हिंसा का विचार भी किया जाता है। मद्य जीवन के लिए अशुचिकर, मादक, और अशोभनीय माना जाता है, आसव-अरिष्ट का प्रयोग तो कल्याणकारक में आता है। जैसे प्रमेहरोगाधिकार में आमलकारिष्ट आदि।

आयुर्वेद के प्राचीन संहिताग्रन्थों में मद्य, मांस और मधु का भरपूर व्यवहार किया गया है। चरक आदि में मांस और मांसरस से संबंधित अनेक चिकित्सा प्रयोग दिये गये हैं।

मद्य को अग्निदीप्ति कर और आशु प्रभावशाली मानते हुए अनेक रोगों में इनका विधान किया गया है। राजयक्ष्मा जैसे रोगों में तो मांस और मद्य की विपुल-गुणकारिता स्वीकार की गई है। मधु अनुपान और सहपान के रूप में अनेक औषधियों के साथ प्रयुक्त होता है तथा मधूदक, मध्वासव आदि का पानार्थ व्यवहार वर्णित है।

३. चिकित्सा में वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों के प्रयोग वर्णित हैं। वानस्पतिक द्रव्यों से निर्मित स्वरस, क्वाथ, कल्क, चूर्ण, वटी, आसव, आरिष्ट, घृत और तैल की कल्पनाएं दी गई हैं। क्षारनिर्माण और क्षार का स्थानीय और आभ्यंतर प्रयोग भी बताया गया है। अग्निकर्म सिरावेध और जलौकावचारण का विधान भी दिया गया है।

अनेक प्रकार के खनिज द्रव्यों का औषधीय प्रयोग कल्याणकारक में मिलता है।

४. यदि इस ग्रन्थ का रचनाकाल ८वीं शती सही है, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रस (पारद) और रसकर्म (पारद का मूर्च्छन, मारण और बंध, इस प्रकार त्रिविधकर्म, रससंस्कार) का प्राचीनतम प्रामाणिक उल्लेख हमें इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इस पर एक स्वतंत्र अध्याय ग्रन्थ के 'उत्तरतंत्र' में २४वां परिच्छेद 'रसरसायनविध्य धिकार' के नाम से दिया गया है। कुल ५६ पद्यों में पारद संम्बधी 'रसशास्त्रीय' सब विधान वर्णित हैं।

५. जैन सिद्धांत का अनुसरण करते हुए कल्याणकारक में सब रोगों का कारण पूर्वकृत "कर्म" माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहेतुकास्सर्वविकारजातास्तेषां विवेको गुणमुख्यभेदात् ।
हेतुः पुनः पूर्वं कृतं स्वकर्म ततः परे तस्य विशेषणानि ।।११।।

स्वभावकालग्रहकर्मदैव विधातृपुण्येश्वरभाग्यपापम् ।
विधिः कृतांतो नियतिर्यमश्च पुराकृतस्यैव विशेषसंज्ञा ।।१२।।

न भूतकोपान्न च दोषकोपान्न चैव सांवत्सरिकोपरिष्टात् ।
ग्रहप्रकोपात्प्रभवंति रोगाः कर्मोदयोदीरणभावतस्ते ।।१३।।

(क. का, प-७, ११-१३)

अर्थात् शरीर में सब रोग हेतु के बिना नहीं होते। उन हेतुओं को गौण और मुख्य भेद से जानने की आवश्यकता होती है। रोगों का मुख्य हेतु पूर्वकृत कर्म है। शेष सब उसके विशेषण अर्थात् निमित्तकारण है या गौण हैं।

'स्वभाव, काल, ग्रह, कर्म, दैव, विधाता, पुण्य, ईश्वर, भाग्य, पाप, विधि, कृतांत, नियति, यम—ये सब पूर्वकृत कर्म के ही विशेष नाम हैं।'

"न पृथ्वी आदि महाभूतों के कोप से, न दोषों के कोप से, न वर्षफल के खराब होने से और न ग्रहों (शनि, राहु आदि) के कोप से—रोग उत्पन्न होते हैं। अपितु, कर्म के उदय और उदीरण से ही रोग उत्पन्न होते हैं।"

फिर 'चिकित्सा' क्या है ? और इसका प्रयोजन क्या है ? इन प्रश्नों का भी आचार्य उग्रादित्य ने रोग-निदानानुरूप ही उत्तर प्रस्तुत किया है। यथा

'कर्म की उपशमनक्रिया को चिकित्सा या रोगशांति कहते हैं।

तस्मात्स्वकर्मोपशमक्रियाया व्याधिप्रशांतिं प्रवदंति तज्ज्ञाः।"

(क-का., ७/१४) 'अपने कर्म का पाक' दो प्रकार से होता है—१. समय पर स्वयं पकना, २. उपाय द्वारा पकना। इनकी सुन्दर विवेचना आचार्य ने की है—

स्वकर्मपाकोद्विविधो यथावदुपायकालक्रमभेदभिन्नः ।।१४।।
उपायपाकोवरघोरवीरतपः प्रकारैस्सुविशुद्धमार्गैः ।
सद्यः फलं यच्छति कालपाकः कालांतराद्यः स्वयमेव दद्यात् ।।१५।।

यथा तरूणां फलपाकयोगो मतिप्रगल्भैः पुरुषैर्विधेयः ।
तथा चिकित्सा प्रविभाग काले दोषप्रकोपो द्विविधः प्रसिद्धः ।।१६।।
आमघ्नसदभेषजसंप्रयोगादुपायपाकं प्रवदंति तज्ज्ञाः ।
कालांतरात्कालविपाकमाहुर्मृगद्विजानाथजनेषु दृष्टम् ।।१७।।

(१) **उपायपाक**—श्रेष्ठ, धीर, वीर, तपस्यादि विशुद्ध उपायों से कर्म का जबरन उदय कराना (उदयकाल न होने पर भी) इसे 'उपायपाक' कहते हैं जिससे वह तत्काल फल देता है।

(२) **कालपाक**—कालांतर में यथा समय जो पाकर स्वयं उदय में आकर फल देता है। वह 'कालपाक' है।

जिस प्रकार वृक्ष के फल स्वयं पकते हैं और बुद्धिमान व्यक्तियों द्वारा पकाये भी जाते हैं उसी प्रकार दोषों का पाक भी '**उपाय (चिकित्सा)**' और '**कालक्रम**' से दो प्रकार से पक्व होते हैं। दोष या रोग के आमत्व को औषधियों द्वारा पकाना 'उपायपाक' कहलाता है और कालांतर में (अपने पाक काल में) स्वयं ही (बिना किसी औषधि के) पकना 'कालपाक' कहलाता है।

इसलिए लिखा है—'जीव (आत्मा) अपने कर्म से प्राप्त होने वाले पापपुण्य रूपी फल को बिना प्रयत्न के अवश्य ही प्राप्त करता है। पाप और पुण्य के कारण ही दोषों का प्रकोप और उपशम होता है। क्योंकि ये दोनों ही मुख्य कर्म हैं। अर्थात् रोग के प्रति दोष प्रकोप व दोषशमन गौण (निमित्त) कारण हैं।

जीवस्स्वकर्मार्जितपुण्यपापफलं प्रयत्नेन विनापि भुंक्ते ।
दोषप्रकोपोपशमौ च ताभ्यामुदाहृतौ हेतुनिबंधनौ तौ ।। (क. का. ७।१०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) कल्याणकारक में शारीर विषयक वर्णन विस्तार से नहीं मिलता, किन्तु २० वें परिच्छेद में भोजन के बारह भेद, दश औषधकाल, स्नेहपाक आदि, रिष्टों का वर्णन करने के साथ शरीर के मर्मों का वर्णन किया गया है।

(७) इस शास्त्र (प्राणावाय या आयुर्वेद) के दो प्रयोजन बताये गये हैं—स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण और रोगी का रोगमोक्षण। इन सबको संक्षेप से इस ग्रन्थ में कहा गया है—

"लोकोपकारकरणार्थमिदं हि शास्त्रं शास्त्रप्रयोजनमपि द्विविधं यथावत् ।
स्वस्थस्य रक्षणमथामयमोक्षणं च संक्षेपतः सकलमेवनिरूप्यतेऽत्र ।। (क०का० १।२४)

चिकित्सा के आधार जीव हैं। इनमें भी मनुष्य सर्वश्रेष्ठ जीव हैं।

'सिद्धान्ततः प्रथितजीवसमासभेदे पर्याप्तसंज्ञिवरपंचविधेन्द्रियेषु ।
तत्रापि धर्मनिरता मनुजाः प्रधानाः क्षेत्रे च धर्मबहुले परमार्थजाताः ।। (क० का० १।२६)

जैनसिद्धांतानुसार जीव के १४ भेद हैं—१ एकेंद्रिय सूक्ष्म पर्याप्त, २ एकेन्द्रियसूक्ष्म् अपर्याप्त, ३ एकेंद्रिय बादरपर्याप्त, ४ एकेंद्रिय बादर अपर्याप्त, ५ द्वीन्द्रियपर्याप्त ६ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ७ त्रीन्द्रियपर्याप्त, ८ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, ९ चतुरीन्द्रिय पर्याप्त, १० चतुरीन्द्रिय अपर्याप्त, ११ पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्त, १२ पंचेन्द्रिय असंज्ञी अपर्याप्त, १३ पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्त, १४ पंचेंद्रिय संज्ञी अपर्याप्त।

(१) जिनको आहार शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा व मन—इन ६ पर्याप्तियों में यथासंभव पूर्ण प्राप्त हुए हों उन्हें **'पर्याप्तजीव'** कहते हैं। जिन्हे ये पूर्व प्राप्त न हुए हों, उन्हें **'अपर्याप्त जीव'** कहते हैं। अपर्याप्त जीवों की अपेक्षा पर्याप्त जीव श्रेष्ठ हैं।

(२) जिनको हित-अहित, योग्य-अयोग्य, गुण-दोष आदि का ज्ञान होता है उन्हें **'संज्ञी'** कहते हैं, इसके विपरीत 'असंज्ञी' हैं। असंज्ञियों से संज्ञी श्रेष्ठ हैं।

पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं। उनमें भी धर्माचरण करने वाले मनुष्य प्रधान हैं, क्योंकि उन्होंने धर्ममय क्षेत्र (शरीर) में जन्म लिया है।

(८) ग्रन्थ-योजना भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। संपूर्ण ग्रन्थ के मुख्य दो भाग हैं—मूलग्रन्थ (१ से २० परिच्छेद) और उत्तरतंत्र (२१ से २५ परिच्छेद)। 'प्राणावाय' (आयुर्वेद) संबंधी सारा विषय मूलग्रंथ में प्रतिपादित किया गया है। मूलग्रन्थ भी, स्पष्ट तया दो भागों में बंटा हुआ है—स्वास्थ्यपरक और रोगचिकित्सापरक। प्रथम परिच्छेद में आयुर्वेद (प्राणावाय) के अवतरण की ऐतिहासिक परम्परा बतायी गयी है और ग्रन्थ के प्रयोजन को लिखा गया है। द्वितीय परिच्छेद से छठे परिच्छेद तक स्वास्थ्य-रक्षणोपाय वर्णित हैं। स्वास्थ्य दो प्रकार का बताया गया है, १. पारमार्थिक स्वास्थ्य (आत्मा के संपूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न आत्यंतिक नित्य अतीन्द्रिय मोक्ष रूपी सुख) २. व्यवहार स्वास्थ्य (आग्नि व धातु, की समता दोषविभ्रम न होना, मल-मूत्र का ठीक से विसर्जन, आत्मा-मन-इंद्रियों की प्रसन्नता)।[1] छठे परिच्छेद में दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, वाजीकरण और रसायन विषयों का वर्णन है) क्योंकि ये सभी स्वास्थ्यरक्षण के आधार हैं।

सातवें परिच्छेद में रोग और चिकित्सा की सामान्य बातें, निदान पद्धति का वर्णन है।

आठवें से अठारहें तक विभिन्न रोगों के निदान चिकित्सा का वर्णन है। रोगों के मोटे तौर पर दो वर्ग किए गए हैं—१ महामय, २ क्षुद्रामय। महामय आठ प्रकार के हैं—प्रमेह, कुष्ठ, उदररोग, वातव्याधि, मूढ़गभ, अर्श, अश्मरी और भगंदर। शेष सब रोग क्षुद्र-रोगों की श्रेणी में आते हैं। क्षुद्र रोगों के अंतर्गत ही 'भूतविद्या' संबंधी विषय—बालग्रह और भूतों का वर्णन है। उन्नीसवें परिच्छेद में

1. अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुत यदेतदात्यंतिकमद्वितीयम् |
अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिः तदेतदुक्तं परमार्थनामकम् || ३ ||
समाग्निधातुत्वमदोषविभ्रमो मलक्रियात्मेंद्रियसुप्रसन्नता |
मनः प्रमादश्च नरस्य सर्वदा, तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु || ४ || (क. का. २/३-४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषरोग—अगद तंत्र संबंधी विषय दिये गये हैं। मद्य को विष वर्ग में ही माना गया है। अंतिम बीसवें परिच्छेद में सप्तधातूत्पत्ति, रोग-कारण और अधिष्ठान, साठ प्रकार के उपक्रम व चतुर्विधकर्म, भोजन के बारह भेद, दश औषधकाल, स्नेहपाकादि की विधि, रिष्ट-वर्णन, और मर्मवर्णन हैं।

उत्तरतंत्र में क्षारकर्म, अग्निकर्म, जलौकावचारण, शस्त्र कर्म, शिराव्यध, स्नेहनादि कर्मों के यथावत् न करने से उत्पन्न आपत्तियों की चिकित्सा, उत्तरबस्ति, गर्भाधान, प्रसव, सूतिकोपचार, धूम्रपान, कवल-गंडूष, नस्य, शोथ-वर्णन, पलित-नाशन, केशकृष्णीकरण उपाय, रसविधि विविध, कल्पप्रयोग हैं। अंत में दो परिशिष्टाध्याय हैं।

दक्षिण भारत के अन्य जैन-आयुर्वेद ग्रंथ

अष्टांग आयुर्वेद के प्रतिपादक और 'प्राणावाय' परम्परा के मुख्य उपलब्ध मौलिक ग्रन्थ 'कल्याणकारक' पर विस्तार से विवेचन देने के पश्चात् यहां दक्षिण भारत में लिखित दिगंबर आचार्यों के अन्य वैद्यक-ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है।

समंतभद्र—(३-४ शताब्दी) कर्नाटक में इनका लिखा हुआ 'पुष्प आयुर्वेद' नामक ग्रन्थ मिलता है, वह संदिग्ध है। उग्रादित्य ने इनके अष्टांग संबंधी विस्तृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

पूज्यपाद—(५वीं शताब्दी)—इनका प्रारम्भिक नाम देवनंदि था। बाद में बुद्धि की महत्ता के कारण यह 'जिनेन्द्रबुद्धि' कहलाये तथा देवों ने जब इनके चरणों की पूजा की, तब से यह 'पूज्यपाद' कहलाने लगे। मानवजाति के हित के लिए इन्होंने वैद्यकशास्त्र की रचना की थी। यह ग्रन्थ अप्राप्य है। 'कल्याणकारक' में अनेक स्थानों पर 'पूज्यपादेन भाषितः' ऐसा कहा गया है। आन्ध्रप्रदेश में रचित १५ वीं शती के 'वसवराजीय' नामक ग्रंथ में पूज्यपाद के अनेक योगों का उल्लेख मिलता है। पूज्यपाद के अधिकांश योग धातु-चिकित्सा संबंधी हैं। इनका ग्रंथ 'पूज्यपादीय' कहलाता था। यह संस्कृत में रचा होगा। कर्नाटक में पूज्यपाद का एक कन्नड़ में लिखित पद्यमय वैद्यकग्रन्थ मिलता है। 'वैद्यसार' नामक ग्रन्थ भी पूज्यपाद का लिखा बताया जाता है, जो 'जैन-सिद्धांत भवन' (आरा) से प्रकाशित हो चुका है, परन्तु ये दोनों ही ग्रन्थ पूज्यपाद के नहीं हैं।

कन्नड-ग्रंथ—संस्कृत के ग्रन्थों के अतिरिक्त कन्नड़ भाषा में भी जैन आयुर्वेद के ग्रन्थ रचे गये।

जैन मंगलराज—ने स्थावरविष की चिकित्सा पर 'खगेन्द्रमणिदर्पण' नामक एक बड़ा ग्रन्थ लिखा था। यह प्रारम्भिक हिन्दू विजयनगर साम्राज्यकाल में राजा हरिहर-राज के समय में विद्यमान था। इनका काल ई० सन् १३६० के आसपास माना जाता है।

देवेन्द्रमुनि—ने 'बालग्रहचिकित्सा' पर ग्रन्थ लिखा था।

श्रीधरसेन—(१५०० ई०) ने 'वैद्यामृत' की रचना की थी।

इसमें २४ अधिकार हैं, जो चौबीस तीर्थंकरों के नामोल्लेख से प्रारंभ होते हैं।

वाचरस—(१५०० ई०) में 'अश्ववैद्यक' की रचना की। इसमें अश्वों की चिकित्सा का वर्णन है।

पद्मरस या **पद्मण्ण पण्डित** ने १६२७ ई० में 'हयसारसमुच्चय' (अश्वशास्त्र) नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें घोड़ों की चिकित्सा बतायी गई है।

रामचन्द्र और **चन्द्रराज** ने 'अश्ववैद्यक', **कीर्तिमान** ने 'गोचिकित्सा', **वीरभद्र** ने पालकाप्य कृत हस्त्यायुर्वेद की कन्नड़ टीका, **अमृतनन्दि** ने 'वैद्यकनिघण्टु' नामक शब्दकोश, **साल्व** ने 'रसरत्नाकर' और 'वैद्यसांगत्य, **जगद्देव** ने 'महामन्त्रवादि' नामक वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी।

दक्षिण की अन्य तमिल आदि भाषाओं में *जैन वैद्यक ग्रंथों का संग्रह नहीं हो पाया है।*

उपसंहार—यह सुनिश्चित है कि **'प्राणावाय'** (जैन आयुर्वेद) की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने में दक्षिण भारत का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आठवीं शती में रचित 'कल्याणकारक' इसका ज्वलंत उदाहरण है। परन्तु उत्तरी भारत में तो वर्तमान में एक भी प्राणावाय का प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि यह परम्परा उत्तर में बहुत काल पूर्व में ही लुप्त हो गई थी। इस दृष्टि से 'दृष्टिवाद' के लुप्त साहित्य का, विशेषकर 'प्राणावाय' का, दक्षिणी जैन दिगम्बर-परम्परा में उपलब्ध होना, एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को सूचित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org